

महाभारतकालीन शिक्षण विषय के कतिपय सिद्धांत एवं धारणाएँ

राणा पंकज कुमार सिंह

शोध छात्र, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

ABSTRACT

यहाँ हम प्राचीन भारतीय शिक्षण विषयक कतिपय सिद्धांत एवं इसके प्रति धारणाओं का वर्णन करेंगे। मनुष्य में धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, धर्म विश्वास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों की शिक्षा सामाजिक गुणों की उन्नति तथा संस्कृति का संरक्षण और प्रचार प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श तथा इसके सिद्धांत थे। महाभारतकालीन शिक्षण पद्धति में धर्म का विशेष प्रभाव था। गुरुकुल में विधार्थियों के जीवन में भवित, धर्म, शुद्धता, पवित्रता तथा श्रम के प्रति निष्ठा थी।

प्राचीन काल के शिक्षण पद्धति पर विशेष सिद्धांत एवं धारणाओं का विशद स्रोत प्राप्त नहीं है। जहाँ तक सिद्धांत की जानकारी का प्रश्न है वह हमें शास्त्रों, उपनिषदों एवं महाकाव्य में वर्णित सुत्र और सुभाषितों तथा शिक्षा प्रणाली के स्वरूप से प्राप्त होता है।

शिक्षा का सिद्धांत मूलग्राही होना चाहिए मूलग्राही से मतलब यह है कि मानव के अन्तर्ज्योति वह जाग्रत करता है। अंतर्ज्योति ज्ञान को प्रकाशित करता है, और इसे शिक्षा के एक साधन के रूप में लिया गया है। शिक्षा केवल पुस्तक और सैद्धांतिक तथ्यों पर ही अवलम्बित नहीं है बल्कि शिक्षा व्यक्ति को जीवन की कठिनाईयों और समस्याओं का सामना करने योग्य ही बनाती है। प्राचीन काल में शिक्षा ठोस और कार्यसाधक हुआ करती थी। शिक्षा का उद्देश्य विषयों का साधारण ज्ञान देना ही न था, बल्कि विषयों के संबंध में एक उच्च कोटि का आदर्श भी स्थापित करना था। प्राचीन भारत में मुद्रण प्रणाली विकसित नहीं हो पायी थी, इसलिए पुस्तकालय का स्वरूप विकसित नहीं था। यही कारण है कि महाभारतकालीन शिक्षण व्यवस्था में ब्रह्मचारी को स्मृति स्थायी रखने की कला का ज्ञान दिया जाता था और ये ब्रह्मचारी गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त करने के बाद आजीवन विद्या को विस्मृत नहीं कर पाते थे। विद्यार्थियों को अपने—अपने क्षेत्र में प्रवीण बनाने पर ध्यान दिया जाता था। व्यवसायिक शिक्षा में प्रयोग और व्यवहार पर विशेष बल दिया गया था।

शिक्षा का दूसरा मूलभूत सिद्धांत था कि समाज की प्रगति और विकास के लिए शिक्षा को सार्वजनिक बनाया जाए और व्यक्ति को शिक्षा ग्रहण करने योग्य बनाया जाए। प्राचीन यूनान में शिक्षा सीमित व्यक्तियों को दी जाती थी और कुछ लोगों का ही इस पर विशेषाधिकार था। तात्कालिन समाज में धार्मिक और साहित्यिक शिक्षा के प्रारंभ के पहले उपनयन संस्कार का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। आर्य नर—नारियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया था यही कारण है कि उस काल में धार्मिक साहित्य का प्रचार व प्रसार हुआ, समाज में एक यह भी मान्यता थी कि संतान पैदा करना ही व्यक्ति का मूल धर्म नहीं है, इससे पितृ—ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती बल्कि पितृ—ऋण से तभी मुक्ति मिलेगी जबकि उनके संतान सम्यक रूप से शिक्षित हो जायेंगे।

कहा गया है— तस्माव्युत्रमनुशिष्ट लोक्यामाहुस्तस्मादेनमनुशास्ति।¹

इस प्रकार समाज में एक चेतना थी कि वे धार्मिक व साहित्यिक शिक्षा को ग्रहण करते थे, इसकी प्रथम शताब्दी में जब क्षत्रिय और वैश्यों का उन्नयन धीरे-धीरे बंद होने लगा तो स्थिति बिगड़ने लगी और वे भी शुद्धों के स्तर पर उतरने लगे, इससे साहित्यिक शिक्षा के प्रति जिसका रुझान था, उसकी व्यवस्था की गई थी। समाज में जाति-प्रथा का प्रचलन भी बढ़ने लगा और इस व्यवस्था ने समाज में अपनी जड़ें जमा ली और प्रत्येक परिवार से आशा की जाने लगी कि वह अपनी संतान को पैतृक व्यवसाय की शिक्षा दे।

शिक्षा संबंधी आदर्श की प्राप्ति के लिए कई योजनाएँ क्रियान्वित की गईं। अधिक से अधिक अध्यापक उपलब्ध हो, इसलिए तदर्थ अध्यापन का कार्यभार ब्राह्मण को सौंप दिया गया था। समाज में शिक्षा निःशुल्क कर दी गई थी। इस काल में जो आचार्य शुल्क के लिए मोल-जोल करते थे, उन्हें समाज में तिरष्कृत समझा जाता था। निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर सके, इसलिए समाज ने ब्रह्मचारी को शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दे दी और ब्रह्मचारी को इस पर निर्भर रहने का धार्मिक नियम बना दिया गया। समाज ने यह व्यवस्था दी कि विद्वान् आचार्यों को, शिक्षण संस्थाओं को राजा और प्रजा दोनों ही मुक्त हाथ से दान दे, और आचार्य त्याग की भावना से कार्य करे और मात्र जीवन-यापन के लिए उचित धन लिया करें।

प्राचीन भारत के विद्वानों का मत था कि सामान्य रूप से सभी को शिक्षा मिलनी चाहिए तथापि उन्होंने ये नियम बना दिया कि जो व्यक्ति नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से अयोग्य हो उन्हें शिक्षा नहीं देनी चाहिए।² इससे जो मंदबुद्धि था उसे पढ़ाने में व्यर्थ समय नहीं दिया जाता था, विद्वानों का यह मत था कि विद्या प्रमाद और असावधानी से अध्ययन करने से नहीं मिल सकती है, दूसरा अहंमन्यता विद्या की समान रूप से शत्रु है। कहा गया है—

सुखार्थिनों कुतो विद्या नास्ति विधार्थिनः सुखम् ॥ (सुभाषित)

विवाह और ब्रह्मचर्य के संबंध में प्राचीन भारतीयों का मत था कि अध्ययन काल में ब्रह्मचारी को शादी नहीं करनी चाहिए। महाभारत काल में विधार्थी जो विद्या अर्जन करते थे, उन्हें ब्रह्मचारी कहा गया था, ब्रह्मचारी से तात्पर्य उस व्यक्ति से था जो शिक्षा के आदर्शों एवं महत्वाकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य ब्रत का पालन किया करते थे। विधार्थी को तन-मन-धन से ब्रह्मचर्य ब्रत का पालन करना पड़ता था और अध्ययन समाप्ति के बाद वह गुरु की आज्ञा लेकर विवाह कर सकता था।

गुरुकूल से शिक्षा की प्राप्ति के बाद ही वे सांसारिक जीवन में प्रवेश करते थे, तो शिक्षा शास्त्री आग्रह करते थे कि प्रत्येक स्नातक जो उन्होंने पाठशालाओं में अध्ययन किया है, पुस्तक के कुछ अंशों की आवृत्ति प्रतिदिन नियमित रूप से करनी चाहिए, धर्मशास्त्रकारों ने इस विधि को स्वाध्याय कहा है। समावर्तन के समय आचार्य स्वाध्याय में प्रमाद न करने के लिए उपदेश दिया करते थे।

“स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमादितव्यम्”³ (तै० उ०- ॥)

प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रसार के समय यह ध्यान दिया जाता था कि ब्रह्मचारी सत स्वभाव के हैं या नहीं, इसलिए ब्रह्मचर्य काल में ही विद्यार्थियों में अच्छी आदत का निर्माण किया जाता था। विद्वानों का मत था कि अच्छी आदतें बाल्यकाल में ही डाली जाए। रामायण में भी कहा गया है—

“गुरु गृह गये पढ़न रघुराई

अल्पकाल विद्या सब पायी ॥⁴

इस प्रकार महाभारतकाल में भी गुरु द्रोणाचार्य ने विद्यार्थियों को शारीरिक बल, मन की पवित्रता और सद्बुद्धि पर विशेष ध्यान दिया था, उस काल में भी पाठशालाओं में, गुरु आश्रमों में अच्छी आदतों पर विशेष ध्यान दिया गया था, गुरु कहा करते थे, मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए अच्छी आदतों और नियमों का पालन निरंतर करना चाहिए और यह आजीवन उस व्यक्ति के काम आता है। सदाचार के जो भी नियम ब्रह्मचारी के लिए बनाये गये थे, वे प्रत्येक मानव के लिए सकारात्मक थे जैसे ब्रह्म-मुहूर्त में जगना, सादा जीवन बिताना, उच्च विचारों का प्रदर्शन ही अभिष्ट था, विद्यार्थियों में इस आदर्श के प्रति अनुराग उत्पन्न किया था,

मिष्ठान भोजन और भड़कीले वस्त्र का उपयोग ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध था। जीवन में किसी भी परिस्थिति से जु़ज़ने के लिए उसे दीर्घ संघर्ष करने का उपदेश दिया जाता था, इसलिए ब्रह्मचारी को वीर्यवान और निर्भर बनाने के लिए कई नियम बनाये गये थे। विद्यार्थी अभ्यास क्रम में साहित्यिक काव्य और निबंध की रचना करते थे, कर्म कांड के विद्यार्थियों को अपने जीवन में यज्ञ में भी भाग लेना पड़ता था, शिल्प और चित्रकला के विद्यार्थियों को नियमित रूप से मूर्ति और चित्र बनाना पड़ता था।

प्राचीन काल में ऋषियों, मनीषियों, ज्ञानियों, विद्वत्‌जनों ने विद्यार्थी के मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान के लिए निम्नवत् गुणों के धारण पर अपना मत प्रकट किया जो इस प्रकार है—

छात्रों का सर्वांगीण विकास एवं उनकी सर्वतोमुखी प्रगति शिक्षा के माध्यम से होती रही है। ब्रह्मचारी द्वारा प्रत्येक दिन क्रिया संध्योपासना, व्रतों का अनुपालन धर्म समन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे हैं। आचार्य कुल में रहते हुए अग्नि परिचर्चा के नियमों का पालन भी ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अंग भी।⁵ मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान—क्रिया आदि अग्नि कार्य और संध्योपासना, ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था⁶ तैतरीय उपनिषद— 1/11⁷

प्राचीन कालीन छात्रों को संध्या—वंदन, पूजा—पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अंतर्गत गृहीत किये गये थे, फिर भी सत्य को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है। सत्य न बोलने से धर्म का नाश होता है— अमृत मंथन—15/4⁸। विद्यार्थी के विभिन्न नियम धर्ममूलक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते थे। उनके लिए सात्त्विक जीवन और जीवन तथा शील रहना अनिवार्य था। अतः मनुष्य में तप, दान, आर्यव, अहिंसा, सत्य—वचन आदि तत्त्व अनिवार्य माने गये— छन्दोगउपनिषद 3/17/4।⁹

चरित्र—निर्माण :—

मनुष्य के चरित्र का उत्थान प्राचीन भारतीय शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था। सच्चरित्रता व्यक्ति का भूषण मानी गई थी। आचार सम्पन्न और चरित्रवान व्यक्ति अभिनन्दनीय था। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्य—निष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्त्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्द्धन था वही पंडित था— अनु० 12/321/78।¹⁰

शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपनी तामसी एवं पाश्विक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता था तथा सत्य असत्य का भेद कर सकने में समर्थ होता था। छात्र जीवन, चरित्र का विकास और भावी जीवन के विकास का सर्वोत्तम काल था। छात्र का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना दिव्य होता था कि सभी उसका आदर करते थे और उसके समक्ष नतमस्तक होते थे। ब्रह्मचारी को अपने मन पर अंकुश लगाने की शक्ति का विकास करने को कहा गया था। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में नैतिकता की भावना का विकास और उसकी पाश्विक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर उसके स्वभाव को आदर्श बनाना लक्ष्य रखा गया था। शिक्षा के वृक्ष में यदि पांडित्य और ज्ञान का फल निकलता है तो सदाचार और शील का भी निकलना चाहिए।¹¹

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान—

प्राचीन भारतीय शिक्षा का तीसरा उद्देश्य था व्यक्तित्व का विकास। इसके लिए आत्म—सम्मान की भावना, आत्म—विश्वास का उपयोग और आत्म—संयम का महत्व, ब्रह्मचारी के मन पर अंकित किया जाता था, साथ ही विद्यार्थी में विवेक और न्याय की शक्ति का विकास किया जाता था। विद्यार्थी सदैव यह ध्यान रखते थे कि वे भारतीय संस्कृति के रक्षक और मार्गदर्शक हैं। उनके सम्यक कर्तव्य पालन से ही इसकी उन्नति संभव है। निर्धन विद्यार्थियों का भरण—पोषण समाज का कर्तव्य था। जिसके पालन में

प्रमाद से दैविक विपत्तियों का भय था।¹² प्राचीन युग में ब्रह्मचारी में यह आत्म विश्वास जागृत कराया जाता था कि भावी जीवन की भयंकर कठिनाईयों में भी वह स्थिर मत रख सकें।¹³

सामाजिक उत्तरदायित्वों का ज्ञान कराना :-

विद्यार्थियों में नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों के पालन की भावना भरना प्राचीन भारतीय शिक्षा का चौथा उद्देश्य था। स्नातकों को केवल अपने हित के साधनों का ध्यान न रखना पड़ता था, बल्कि दूसरे के हित का भी ध्यान रखना पड़ता था। संतानोत्पादन और उनके शिक्षण द्वारा उसे जातीय और संस्कृति की परम्परा बनाए रखने का उपदेश दिया जाता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में उसे सतर्कता और योग्यता पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया जाता था। उसकी सम्पत्ति न केवल स्वहित के लिए थी बल्कि परकल्याण के लिए भी। अतः उसे अतिथियों का सत्कार और दरिद्रों के दुःख को दूर करना भी आवश्यक था। अपने को कष्ट में डाल कर रोगी की सेवा करना, चिकित्सक का धर्म था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने नागरिक कर्तव्यों के पालन का निर्देश दिया गया था। विद्यार्थियों को यह सिखाया जाता था कि दूसरों पर दुःख आने और बीमार पड़ने पर उसके पास अवश्य जाना चाहिए, संवेदना प्रकट करनी चाहिये और यथासंभव सेवा—सहयोग करना चाहिए।

विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के अवसर पर उसके भावी जीवन को सही रचाने के लिए यह निर्देश दिया जाता था— सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद न करना, आचार्य की दक्षिणा दे कर ही स्वगृह जाना। विवाह कर संतति उत्पादन करने की परम्परा को विच्छिन्न न करना, सत्य से न हटना, धर्म से न हटना, लाभ कार्य में प्रमाद न करना, महान बनने के सुअवसर से न चूकना, पठन—पाठन के कर्तव्य में प्रमाद न करना, देवता और पितरों के कार्य में प्रमाद न करना, माता को देवी समझना, आचार्य को देवता समझना, अतिथि को देवता समझना, अन्यान्य दोष रहित कार्यों को करना।¹⁴

आत्मसंयमी बनने का आग्रह—

प्राचीन भारतीय शिक्षण—पद्धति में आत्मसंयम और सादगी पर जोर दिया जाता था, विद्यार्थी आवश्यकतानुसार वस्त्र रख सकता था, पर भड़कीले नहीं उसे छिछलापन, मैलापन से दूर रहने का परामर्श दिया गया था।

जीवन और व्यवहार में सादगीपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन। अभद्र दृश्यों का अनावलोकन अभक्ष्य—भक्षण, और अपेयापेय से बचने का उसे परामर्श दिया गया था, ऐसा करने से छात्रों में सद्गुणों का विकास होता था।

सामाजिक योग्यता और सुख की वृद्धि—

प्राचीन भारतीय शिक्षा का पाँचवा उद्देश्य था— सामाजिक योग्यता और सुख की वृद्धि। विभिन्न शास्त्रों, व्यवसायों और उद्योगों की शिक्षा के द्वारा इसकी पूर्ति की योजना की गई थी। शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास ही नहीं बल्कि विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार के व्यवसाय की भी शिक्षा देना था, जिसे वह आने वाले जीवन में अपनाकर सुखी—शांत एवं प्रसन्न बन सके। आगे चलकर उपरोक्त आधार पर ही परम्परागत व्यवसाय प्रचलन हुआ जिसे सामाजिक मान्यता प्राप्त हुई। प्रत्येक निगम और परिवार अपनी संतति को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था जिससे बहुजन का हित तो होता ही था, विविध व्यवसाय, विविध जातियों में बाँटे गये थे। और परम्परागत व्यवसाय के कारण लोगों में निपुणता की वृद्धि हुई और व्यवसायिक कार्य क्षमता की वृद्धि भी। इस प्रकार प्राचीन शिक्षण पद्धति से विभिन्न शास्त्रों, कलाओं और व्यवसायों की उन्नति तथा उदीयमान संतति के मन में नागरिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के पालन के आग्रह से समाज की सामान्य प्रगति और सुख तथा समाधान की पर्याप्त वृद्धि होती थी।¹⁵

सांस्कृतिक जीवन का उत्थान—

शिक्षा द्वारा ही सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का विकास एवं संरक्षण होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्परायें ज्वलन्त हो उठती हैं। अतः अपनी संतति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और

प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों का ज्ञान और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कंठस्थ करना और उन्हें यत्पूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य था, साथ ही आर्य—संस्कृति का यह प्रधान उददेश्य भी। वेद वेदांगों को कंठस्थ रखना और उन्हें सदा स्मरण रखना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था।¹⁶

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए त्रि—ऋण की अनिवार्यता मानी गई।¹⁷ प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक् रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य था। तैतरीय संहिता में उल्लिखित है कि ब्रह्मचर्य पालन करते हुए विद्याध्ययन द्वारा व्यक्ति ऋषि—ऋण से, यज्ञ सम्पादन द्वारा देव—ऋण से और स्त्री से संतानोत्पादन कर पितृ—ऋण से मुक्त होता है। देव—ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब यज्ञ सम्पन्न किए जाते थे। विशिष्ट अध्ययन द्वारा ऋषि—ऋण से और संतानोत्पादन द्वारा पितृ—ऋण से व्यक्ति त्रि—ऋण से मुक्त होता था।¹⁸

प्राचीन भारतीयों के द्वारा शिक्षा के संबंध में जो सिद्धांत और धारणाएँ निर्धारित की गई थी, उसके विभिन्न अंगों को निर्धारित किया था। सर्वप्रथम शिक्षा को ठोस आधार प्रदान करने के लिए उसे मूलग्राही बनाया गया। यह मानव के अंतर्ज्योति को जाग्रत करती है, और मानव के जीवन में जो कठिनाईयाँ एवं समस्याएँ आती हैं, उसका सामना करने के लिए शिक्षा उसे योग्य बना देती है। शिक्षा का दूसरा पक्ष यह है कि समाज की प्रगति के लिए उसे सार्वजनिक बनाया जाय। सभी व्यक्तियों को शिक्षा मिलने का अवसर दिया जाय। आज की वर्तमान सरकार ने भी प्रारंभिक शिक्षा से लेकर माध्यमिक शिक्षा तक कानूनी रूप से इसे अनिवार्य कर दिया है।

संदर्भ सूची :-

1. वृ० ३०—०१, ०५, ०७
2. निरुक्त, ०२, ०४
3. तैतरीय उपनिषद्, ३०—११
4. रामायण, बालकांड, पृ० १४८
5. छा० ४०—४—१०१
6. मनु— २ / ६९
7. तैतरीय उपनिषद्— ३ / ११
8. अम्रमंथन, १५ / ४
9. छा० ३०— ३ / १७ / ४
10. अनु०— १२ / ३२१ / ७८
11. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृ० ८
12. वही, पृ० १०
13. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५०७
14. तैतरीय उपनिषद्— १ / ११
15. अल्टेकर, वही, पृ० १२—१३
16. मिश्र, जयशंकर, वही, पृ० ५०८
17. शतपथ ब्राह्मण, १ / ५ / ५
18. मिश्र, जयशंकर, वही, पृ० ५०९